THE HINDU
INDIA'S NATIONAL NEWSPAPER SINCE 1878

Date: 22-06-16

The Centre's big reform push

With India now acknowledged as the fastest growing large economy in the world and also edging up in the World Bank's ease of doing business rankings, the time is ripe for the country to open its doors wider to Foreign Direct Investment (FDI). This is exactly what the Centre has done by raising FDI caps in some sectors (airlines from 49 to 100 per cent), sweeping others entirely into the automatic route (cable TV, brownfield airports) and diluting preconditions for sectors with restrictions (relaxation of sourcing norms in single-brand retail and technology norms for defence). FDI is stickier and more resilient to business cycles than mercurial Foreign Portfolio Investor (FPI) flows. At a time when the private sector has a limited appetite to invest and when the government is tied down by fiscal constraints, India needs to seek out foreign capital to keep its growth engines purring. That foreign investors are interested in India is evident: there has been a 23 per cent surge in inbound FDI, which touched a record $55.5 billion in 2015-16.

Even so, it is simplistic to assume that merely opening up more sectors or setting more liberal equity caps will have foreign investors queuing up to invest. India's experience suggests that actual investment interest in the newly liberalised sectors will be tied to three factors. One, foreign investors, like domestic ones, are ROI (Return on Investment) focussed. Therefore, sectors that are already witnessing booming consumer demand — such as DTH television, airlines and pharmaceuticals — are more likely to attract quick investment flows than those that are in need of bailouts (asset reconstruction firms) or entail long gestation periods (airports or defence). Two, even if the Centre is willing to reduce initial entry barriers, frequent market or pricing interventions can deter investors. The Centre seems to have recognised this in watering down the sourcing norms for FDI in single-brand retail. But its attempts to woo FDI into pharma may be stymied by increasing price controls and the lack of clarity in the policy on essential drugs. Three, the experience with sectors such as insurance suggests that foreign investors committing long-term capital expect to exercise control over the entities they fund. Overall, there is no disputing that the FDI relaxations, irrespective of whether they were timed to signal the Centre's commitment to reforms in the face of RBI Governor Raghuram Rajan's exit in September, are a step in the right direction. But as we have learnt from the past, the devil is usually in the detail.

THE TIMES OF INDIA

Date: 22-06-16

Open Sesame India:

To realise the full potential of FDI reforms, states should play a complementary role

NDA's decision to open up more space for foreign direct investment is timely and will benefit the economy. More importantly, as opportunities increase for foreign capital it will translate into jobs for young Indians. For India to realise the full potential of these policy changes, state governments have to play a complementary role. An encouraging environment for investments needs all levels of government to reduce the hassles which accompany creation of new businesses or expansion of existing ones. On this count, portents are promising as more and more states have become conscious of the need to scrap needless regulations.

FDI has been controlled through three instruments: equity caps, restricted entry and conditional clearances. Based on experience, NDA has tinkered with all three instruments to lower barriers for foreign investors. Now, 100% FDI is allowed in trading in food products manufactured or produced in India. India's farmers need to be freed from fetters imposed by middlemen. Adding a layer of competition will help. Infrastructure development is another area which should benefit as 100% FDI is automatically permitted even for existing airports. A tweak in guidelines has opened up the possibility of 100% foreign ownership of airlines, which should eventually add to competition.

Two other changes suggest that government is open to learning from experience. It has dropped a stringent condition that accompanied FDI in defence sector. A condition which insisted on "state-of-art" technology has been replaced by "modern technology". It is a pragmatic move. The tougher the conditions, the less likely that India will see manufacturers starting production. In another move, tough local sourcing conditions have been diluted for companies having "state-of-art" or "cutting edge" technology. India's manufacturing ecosystem is not robust enough for government to set very tough conditions for FDI. It is best to get started before raising the bar at a later stage.

Enhancing FDI limits, by itself, is not adequate to get the massive investments India needs. Investment is attracted by the entire ecosystem, including the skill level of the workforce. The Narendra Modi government needs to take the initiative on reforms in labour and land, two critical factors of production. The educational sector, where a licence raj prevails, is also badly in need of reform. Unless the approach to economic reforms is comprehensive, missing pieces will limit the impact of individual changes. The good news is that recent developments in GST and FDI show India's political system has the appetite for reforms.

जनसत्ता

Date: 21-06-16

कुपोषित विकास

पिछले दस-बारह सालों में, दो-तीन साल को छोड़ कर, विकास दर के लिहाज से भारत की उपलब्धि शानदार रही है। पिछले दस-बारह सालों में, दो-तीन साल को छोड़ कर, विकास दर के लिहाज से भारत की उपलब्धि शानदार रही है। लेकिन आम लोगों की हालत की कसौटी पर देखें तो यह कामयाबी प्रतिबिंबित नहीं होती। संयुक्त राष्ट्र की तरफ से हर साल आने वाली मानव विकास रिपोर्ट बता देती है कि आम लोगों के रहन-सहन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि मानकों पर हम दुनिया के सबसे पिछड़े व बदहाल मुल्कों के बीच खड़े हैं। खुद राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण और राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण जैसे सरकारी अध्ययन भी विकास के दावों और हकीकत के बीच की गहरी खाई की ओर ही इशारा करते हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण ने एक बार फिर भारत के जन-स्वास्थ्य की निराशाजनक तस्वीर पेश की है। यह सर्वेक्षण तेरह राज्यों और दो केंद्रशासित प्रदेशों में किया गया। जिन राज्यों को शामिल किया गया उनमें आंध्र प्रदेश, बिहार, गोवा, हरियाणा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, मेघालय, सिक्किम, तमिलनाडु, तेलंगाना, त्रिपुरा, उत्तराखंड, पश्चिम बंगाल और दो केंद्रशासित प्रदेश अंडमान एवं निकोबार द्वीपसमूह और पुदुच्चेरी शामिल हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के ताजा दौर के बाकी देश के आंकड़े इस साल के अंत तक जारी होने की संभावना है। पर जारी हुई रिपोर्ट से अंदाजा लगाया जा सकता है कि बाकी राज्यों की हालत कोई अलग नहीं होगी। रिपोर्ट ने बड़े पैमाने पर बच्चों के कुपोषण का शिकार होने की कड़वी सच्चाई स्वीकार की है। रिपोर्ट के मुताबिक चालीस फीसद से ज्यादा बच्चे अल्प-विकसित हैं। अल्प-विकास का मतलब सिर्फ शारीरिक नहीं है, बल्कि इसका मतलब मानसिक क्षमता या सीखने की क्षमता का विकास न हो पाने और भविष्य में उत्पादकता की कसौटी पर खरे न उतरने से भी है। आज विश्व भर के अल्प-विकसित बच्चों की संख्या का तैंतीस फीसद भारत में है। वहीं यूनिसेफ के मुताबिक भारत में पांच साल से कम उम्र के अड़तालीस फीसद बच्चे अल्प-विकसित हैं। कुपोषण की चपेट में बड़े होने वाले बच्चों में प्रतिरोधक क्षमता का अभाव रहता है और वे बीमारियों के जल्दी शिकार होते हैं। एक तरफ हम कौशल विकास और ज्ञान आधारित समाज बनाने की बातें करते रहते हैं और दूसरी तरफ देश के हर दूसरे बच्चे का अपेक्षित विकास नहीं हो पा रहा है। चमकते नारों और विकास के बड़बोले दावों के बरक्स, वास्तव में भारत का कैसा भविष्य बन रहा है! विभिन्न रिपोर्टों के आकलन में थोड़ा-बहुत हेर-फेर

हो सकता है, मगर ये सारी रिपोर्टें भारत में कुपोषण की व्यापकता ही बयान करती हैं। कहने को एकीकृत बाल विकास कार्यक्रम और मिड-डे मील जैसी योजनाएं कुपोषण निवारण के लिए ही चलाई जाती हैं, पर वे निहायत अपर्याप्त आबंटन और लचर कार्यान्वयन की शिकार हैं। लड़कों की बनिस्बत लड़कियां ज्यादा कुपोषित हैं। सत्तर फीसद किशोरियां अनीमिया यानी खून की कमी की शिकार हैं। आगे चल कर जब वे मां बनती हैं तो इसका असर भ्रूण और शिशु पर भी पड़ता है। इसलिए कुपोषण निवारण की नीति और कार्यक्रम को हर हाल में बालिका स्वास्थ्य और माताओं के स्वास्थ्य से जोड़ना होगा। कुपोषण का एक पहलू गरीबी और वंचना से ताल्लुक रखता है तो दूसरा आहार संबंधी खराब आदतों और अस्वास्थ्यकर जीवनशैली से। परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की रिपोर्ट जहां अभाव-जनित कुपोषण की व्यापकता को बयान करती है, वहीं यह भी बताती है कि सर्वेक्षण में शामिल किए गए राज्यों में दस में से तीन महिलाएं मोटापे की शिकार हैं। जाहिर है, अब भारत कुपोषण के दोहरे खतरे से जूझ रहा है। अगर स्वस्थ भारत के सपने को साकार करना है तो इस खतरे को बहुत गंभीरता से लिया जाना चाहिए।

दैनिक भास्कर

Date: 22-06-16

आप कौन से भारत में रहते हैं?

एक भारत वह है, जो मौजूद है और एक वह भारत है, जिसका सपना हम देखते रहते हैं। बेशक, एक और भारत है, जिसे दुनिया देखती है। तीनों भारत एकदम अलग हैं। हम बात एक भारत की करते हैं, लेकिन सोचते हैं किसी और भारत के बारे में। हम एक भारत के लिए बजट बनाते हैं और फिर इसे दूसरे भारत पर खर्च करने लगते हैं।

हम एक भारत की तो चिंता करते हैं और दूसरे को लेकर शेखी बघारते हैं। भ्रम तो इस तथ्य से और बढ़ जाता है कि एक और भारत है, जो कभी हुआ करता था, जिसके लिए आज भी कुछ लोग बहुत व्याकुल हैं और लौटकर फिर उसी भारत में जाना चाहते हैं।

वास्तव में यह एशियाई दुविधा है। हम अपने धुंधले पड़ चुके भूतकाल को भूल नहीं सकते। हम वर्तमान से खुश नहीं हैं और हम हमेशा भविष्य के सपने देखते रहते हैं। हमें हमारे बारे में दूसरे क्या सोचते हैं, उससे भी निपटना होता है। सिर्फ निपटना ही नहीं है बल्कि प्रतिक्रिया भी देनी है।

कई बार हम गुस्सेभरी प्रतिक्रिया देते हैं और कई बार इसे बिज़नेस के अवसर के रूप में लेते हैं, इसलिए चाहे हम मुगल भारत को खारिज करते हों, लेकिन पर्यटन का हमारा सबसे बड़ा आकर्षण तो ताज़महल ही है।

मेरे जैसे लोग जो मौजूदा भारत में रहते हैं, उन्हें आमतौर पर रोना-रोने वाले कहा जाता है। मुझे ट्वीट करके पूछा जाता है कि क्या मुझे अपने आस-पास कुछ भी अच्छा नहीं दिखाई देता। उन्हें यह समझाना बहुत मुश्किल होता है कि, जिस भारत की वे शेखी बघार रहे हैं, यह वह भारत नहीं है, जिसमें मैं रहता हूं।

मुझे भी अपने भारत पर उतना ही गर्व है, लेकिन मेरे भारत को सुधार की जरूरत है। उसे पानी की जरूरत है। उसके जंगलों को संरक्षित रखने की जरूरत है। प्रजातियों को मारने की नहीं, पालने-पोसने की जरूरत है। इन सबसे बढ़कर तो यह है कि इसे उन सबके लिए अधिक करुणा दिखाने की जरूरत है, जो जिंदा रहने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

इसे दुनिया की सबसे तेज बढ़ती अर्थव्यवस्था होने जैसे शेखीभरे दावों की जरूरत नहीं है, यह सबसे तेज बढ़ती अर्थव्यवस्था हो भी सकती है। किंतु जब तक यह सबसे गरीब, सबसे कमजोर तबकों के लिए जिंदगी बेहतर नहीं बनाती तो उसकी वृद्धि का कोई अर्थ नहीं है। वृद्धि दर तो मूर्खतापूर्ण आकड़ा भर है।

किंतु मैं उन लोगों को दोष नहीं देता, जो मुझे हमेशा शिकायत करते रहने वाले शख्स के रूप में देखते हैं, क्योंकि वे एक अलग ही भारत में रहते हैं। यह ऐसा भारत है, जिसे अद्भुत राजनीतिक वादों और उस मीडिया ने बढ़ावा दिया है, जो इसमें ईंधन डालता है। सच कहूं तो मेरा भारत वह है, जो आप अपने आस-पास देखते हैं, वह नहीं, जिसके बारे में आप रूमानी कल्पनाएं करते हैं।

यह वह भारत है, जिसमें आप और मैं रहते हैं- थोड़ा टूटा हुआ, कुछ खोया हुआ, थोड़ा डरावना। यह सारे गलत कारणों से ही सुर्खियों में आता है। यह घोर गरीबी, दु:ख, खुदकुशी, दुष्कर्म के साये में रहता है। मेरे भारत के हीरो तो वे हैं, जो इस सबसे गुजरने के बाद भी सिर ऊंचा करके जिंदगी जी रहे हैं।
क्या केवल सरकारों को ही दोष दिया जाना चाहिए। शायद नहीं। हर राष्ट्र में फलता-फूलता मध्यम वर्ग है, जो उम्मीदों पर जी रहा है और राजनेता उन उम्मीदों को हवा देते हैं। वे झूठ बोलते हैं। वे उम्मीदों

को रूमानी रंग देते हैं। वे गलत जानकारी देते हैं, गुमराह करते हैं और गलत दिशा में ले जाते हैं। किंतु इस सारी प्रक्रिया में वे एक बहुत ही महत्वपूर्ण काम करते हैं।

वे लोगों के सपनों का पोषण करते हैं, जिनकी जिंदगी में ऐसा और कुछ नहीं है, जिसे देखकर आगे बढ़ा जा सके। वे लोगों को नारे देते हैं। वे उन लोगों से नफरत करने के कारण देते हैं, जो उनसे अलग नज़र आते हैं। राजनीति और इतिहास ने बार-बार यह प्रदर्शित किया है कि प्रेम की बजाय क्रोध अधिक लोगों को एकजुट करता है।

प्रेम तो वह चीज है, जिसे हम आदर्श के रूप में देखते हैं। नफरत ही वह भावना है, जिस पर हम पलते हैं। लोगों को नफरत करने के लिए कोई अच्छा कारण दीजिए और वे तत्काल उसे लपक लेंगे। फिर चाहे उन्हें यह पता भी हो कि आप उन्हें अपने हिसाब से ढालकर गुमराह कर रहे हैं। प्रेम और राजनीति, दोनों में लोगों को खुद का इस्तेमाल किया जाना पसंद होता है।
किंतु वे लोग जो आपको बाहर से देख रहे होते हैं, उनका इस्तेमाल करना, उन्हें अपने हिसाब से ढालना आसान नहीं होता। यही वजह है कि एक और भारत का अस्तित्व है। वह भारत, जिस रूप में अन्य हमें देखते हैं। नहीं, मैं एनआरआई यानी अनिवासी भारतीयों की बात नहीं कर रहा हूं। उनकी विश्व दृष्टि तो अतीत-मोह से ग्रस्त है।

मैं तो व्यापक स्तर पर दुनिया की बात कर रहा हूं। वे उस भारत को देखते हैं, जो बिल्कुल भिन्न है। हो सकता है हम भारत को लेकर उनके विचार से सहमत न हों, लेकिन हम इसे नज़अंदाज भी नहीं कर सकते, क्योंकि हमारे बारे में उनकी धारणा से हमारा व्यापार चलता है, दुनिया में हमारा कद तय होता है और (सबसे महत्वपूर्ण) हमारा आत्म-सम्मान परिभाषित होता है।

हमें यह पसंद हो अथवा न हो, लेकिन हम हमेशा खुद को दूसरों की नज़र से देखना पसंद करते हैं। यही वजह है कि हम वेंडी डोनीगर या लेस्ली यूडविन या जेम्स लैन जैसे लोगों से गुस्सा हो जाते हैं। हमारा दावा तो यह होता है कि हमारे बारे में उनके पूर्वग्रह पर हमें गुस्सा आ जाता है, लेकिन सच तो यह है कि उनकी बातों से अपनी छवि के बारे में हमारे दिमाग में जो संदेह उभरते हैं, उसके कारण हम क्रोधित होते हैं।
इसके साथ ही हम उस भारत में भी रहते हैं, जो कई सदियों में एकसाथ रहता है। इससे स्थिति और भी जटिल हो जाती है। लोग अलग-अलग ढंग से अाराधना करते हैं। अलग-अलग ढंग से सोचते हैं। जिन बातों पर वे भरोसा करते हैं, वे भूतकाल का हिस्सा हैं, लेकिन हम हैं कि इसे स्वीकार नहीं करते।

हम अपने भूतकाल के साथ ऐसे रहते हैं, जैसे वह हमारा वर्तमान हो और उस पर हम भविष्य खड़ा कर सकते हैं, इसलिए उत्तरप्रदेश में राम मंदिर, तमिलनाडु में जलीकट्टू महत्वपूर्ण है। तीन बार तलाक

धार्मिक पहचान का अभिन्न अंग है। परिवार के सम्मान के नाम पर होने वाली हत्याएं, जातिगत पूर्वग्रह, महिला के खिलाफ हिंसा, तृतीयपंथियों का बहिष्कार, अल्पसंख्यकों की प्रताड़ना, तर्कवादियों की हत्या : ये सब सड़ चुके ऐतिहासिक एजेंडे के अंग हैं, जिन्हें हम अब भी आजमाने में लगे हैं, जबकि सपना हम विश्व की आर्थिक महाशक्ति बनने का देख रहे हैं।

आप किस भारत में रहते हैं? आप किस भारत में रहना चाहते हैं? आप जिस ध्वज के नीचे खड़े हैं वह किस भारत में फड़फड़ा रहा है? संभव है इसका कोई स्पष्ट उत्तर न हो। लेकिन अपने दिल में झांकिए और आप उस भारत को पाएंगे, जिसे आप प्यार करते हैं।

दैनिक जागरण

Date: 21-06-16

सस्ती दवाओं की आस

पेटेंट कानून के अंतर्गत कंपनी को छूट होती है कि 20 वर्ष तक इन दवाओं को मनचाहे मूल्य पर बेचकर लाभ कमाए।

बाजार में बिकने वाली कुछ दवाएं पेटेंटीकृत होती हैं। किसी कंपनी ने भारी खर्च करके इन दवाओं की खोज की है। पेटेंट कानून के अंतर्गत कंपनी को छूट होती है कि 20 वर्ष तक इन दवाओं को मनचाहे मूल्य पर बेचकर लाभ कमाए। रिसर्च में किए गए निवेश पर इस प्रकार लाभ कमाया जाता है। दूसरी दवाएं जेनरिक होती हैं। पेटेंट की 20 वर्ष की अवधि पूरी हो जाने के बाद किसी भी कंपनी को छूट होती है कि उस दवा का उत्पादन करे। वर्तमान में पेनसिलिन तथा पैरासिटामोल जैसी दवाएं इस वर्ग में आती हैं। इन दवाओं के उत्पादन में कंपनियों के बीच प्रतिस्पर्धा होती है। अत: आशा की जाती है कि इनके दाम कम होंगे। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है, क्योंकि चुनिंदा कंपनियां इन दवाओं को अपने ब्रांड के नाम से बेचती हैं। जैसे पैरासिटामोल को एक कंपनी सेरिडान और दूसरी कंपनी क्रोसिन के नाम से बेचती है। अपने ब्रांड को बढ़ाने के लिए इन कंपनियों द्वारा भारी खर्च किए जाते हैं। एडवरटाइजमेंट के

अतिरिक्त सेल्स रिप्रेजेंटेटिव नियुक्त किए जाते हैं। इनके माध्यम से डॉक्टरों को गिफ्ट, फ्री पर्यटन तथा अन्य प्रलोभन दिए जाते हैं। दुकानदारों के माध्यम से नगद कमीशन भी दिया जाता है। जैसे कोई दवा एक कंपनी द्वारा 100 रुपये में बेची जा रही है। दूसरी कंपनी इसे 500 रुपये में बेचती है। इस 500 रुपये में से 100 रुपये डॉक्टर को कमीशन दिया जाता है। अपने कमीशन के चक्कर में डॉक्टर 500 रुपये की महंगी इवा लिख देते हैं यद्यपि उसी क्वालिटी की दूसरी दवा 100 रुपये में उपलब्ध है।

इस मुनाफाखोरी पर नियंत्रण करने के लिए सरकार विचार कर रही है कि निर्माता, डिस्ट्रीब्यूटर तथा विक्रेता के अधिकतम मार्जिन निर्धारित कर दे। जैसे यदि दवा बनाने में लागत 25 रुपये आती है तो निर्माता का मार्जिन 15 रुपये, डिस्ट्रीब्यूटर का मार्जिन 20 रुपये तथा विक्रेता का मार्जिन 40 रुपये अधिकतम निर्धारित कर दिया जाए। तब मरीज को दवा 100 रुपये में उपलब्ध हो जाएगी। डॉक्टर को कमीशन देकर दवा को 500 में नहीं बेचा जा सकेगा। सरकार के इस मंतव्य का स्वागत है।

इस प्रयास में खतरा नौकरशाही द्वारा शोषण का है। ड्रग इंस्पेक्टर को घूस खाने का एक और रास्ता मिल जाएगा। ईमानदार और जनहितकारी शासन उपलब्ध कराने के सरकार के संकल्प में बाधा आएगी। इस समस्या पर नियंत्रण के दूसरे रास्ते उपलब्ध हैं। एक रास्ता है कि जेनरिक दवाओं पर ब्रांड लगाने पर रोक लगाई जाए। जैसे पैरासिटामोल को अलग-अलग नाम से बेचने पर प्रतिबंध लगा दिया जाए। डॉक्टरों को कानूनन आदेश दिया जाए कि मूल दवा पैरासिटामाल का नाम ही पर्चे पर लिखें। तब मरीज के ऊपर निर्भर करेगा कि वह किस निर्माता द्वारा बनाई गई दवा को खरीदना चाहता है। साथ-साथ विभिन्न निर्माताओं द्वारा बनाई गई दवाओं की गुणवत्ता की जांच कराई जाए और इनके परिणाम को स्वास्थ्य मंत्रालय की वेबसाइट पर डाला जाये। विक्रेता के लिए अनिवार्य बना दिया जाए कि इन जांच परिणामों को वह खरीददार को उपलब्ध कराए। ऐसा करने से खरीददार उस दवा को खरीदेगा जो अच्छी और सस्ती होगी। डॉक्टर को कमीशन देकर लिखाई गई महंगी दवा से उसे छुटकारा मिल जाएगा। ड्रग इंस्पेक्टर को घूस लेने का अतिरिक्त अवसर भी नहीं मिलेगा। पेटेंटीकृत दवाओं पर भी सरकार के हस्तक्षेप की जरूरत है। पेटेंट कानून में व्यवस्था है कि जनस्वास्थ्य की रक्षा के लिए अथवा किसी कंपनी द्वारा दवा को बहुत महंगा बेचने पर सरकार द्वारा पेटेंट की अनदेखी करते हुए उस दवा को दूसरे को बनाने देने का अनिवार्य लाइसेंस दिया जा सकता है। जाहिर है कि पेटेंट धारक कंपनी को स्वीकार नहीं होगा कि उसके पेटेंट को तोड़कर कंपलसरी लाइसेंस दिया जाए। जिस दवा को वह 500 रुपये में बेच रहा है उसी दवा को कंपलसरी लाइसेंस के अंतर्गत 100 रुपये में दूसरी कंपनी द्वारा बेचा जाएगा। यह पेटेंट धारक के लाभ कमाने के अवसर पर सीधी चोट है। आज दवाओं के अधिकतर पेटेंट विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पास हैं। अत: कंपलसरी लाइसेंस देने से इन देशों की कंपनियां नाराज होती हैं।

इन कंपनियों के नाराज होने का सीधा दुष्प्रभाव भारत सरकार के मेक इन इंडिया प्रोग्राम पर पड़ता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियां भारत में निवेश करने से विमुख होती हैं। लेकिन कंपलसरी लाइसेंस के आधार पर घरेलू कंपनी द्वारा उत्पादन बढ़ता है और घरेलू मेक इन इंडिया बढ़ता है। भारत सरकार के सामने संकट है। कंपलसरी लाइसेंस देने से जनता को सस्ती दवा मिलती है, परंतु विदेशी मेक इन इंडिया प्रभावित होता है। विदेशी कंपनियों के आने से भारत में उत्पन्न होने वाले रोजगार तथा तकनीकों के हस्तांतरण से देश वंचित होता है। दूसरी तरफ कंपलसरी लाइसेंस न देने से देश की जनता को महंगी दवा मिलती है, परंतु घरेलू मेक इन इंडिया को सफलता मिलती है। मेरा मानना है कि हाथ की एक चिडिया मंडी में बैठी दो चिडिया से उम्दा है। कंपलसरी लाइसेंस देने से जनता को सस्ती दवा और घरेलू मेक इन इंडिया में विस्तार सुनिश्चित है। तुलना में कंपलसरी लाइसेंस न देने से जनता को महंगी दवा खरीदना निश्चित है, जबकि बहुराष्ट्रीय मेक इन इंडिया अनिश्चित रहता है।

भारतीय जेनरिक दवा बनाने की कंपनियों पर आरोप है कि उनके द्वारा विकसित देशों में अनुचित दाम वसूले जा रहे हैं। कुछ दवाओं के दाम एक वर्ष के अंदर दस गुना हो गए हैं। अमेरिका, इंग्लैंड, जापान तथा कोरिया में इस बात को लेकर उद्वेलन है। यहां समस्या विकसित देशों के कानूनों की है। उन देशों में दवा बेचने की प्रक्रिया बहुत जटिल है। भारतीय कंपनियों को उनके नियमों की शर्तें पूरा करने में बहुत खर्च उठाना पड़ता है। जिस प्रकार विकसित देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियां रिसर्च में निवेश करके पेटेंट के माध्यम से ऊंचे दाम वसूलती हैं उसी प्रकार विकसित देशों के कानून के अनुपालन में निवेश करके भारतीय कंपनियां विकसित देशों में ऊंचे दाम वसूल कर रही हैं। इस समस्या का हल विकसित देशों के कानून का सरलीकरण है बिल्कुल उसी तरह जैसे पेटेंट कानून का सरलीकरण हमारे देश के लिए महंगी दवाओं का हल है। विकसित देशों में भारतीय जेनरिक दवाओं के विरोध से विचलित नहीं होना चाहिए और उन देशों पर कानूनों के सरलीकरण का दबाव बनाना चाहिए।

[लेखक डॉ. भरत झुनझुनवाला, आर्थिक मामलों के विशेषज्ञ हैं और आइआइएम बेंगलूर में प्रोफेसर रह चुके हैं]

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 21-06-16

अगर भारत को रोका गया तो

डब्ल्यूपीएस सिद्धू, सीनियर फैलो, न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी

न्यूक्लियर सप्लायर्स ग्रुप यानी एनएसजी को लेकर चीन की सक्रियता लगातार जारी है। वह इस संगठन में अमेरिका के प्रभुत्व को कम करने, पाकिस्तान को शामिल कराने और भारत को इससे दूर रखने की कोशिशों में जुटा हुआ है। वह परमाणु अप्रसार संधि की हिमायत करने वाले कुछ देशों पर अपना रंग जमाने में कामयाब होता भी दिख रहा है।

दक्षिण कोरिया की राजधानी सियोल में इसी हफ्ते होने वाली एनएसजी की महत्वपूर्ण बैठक में इसका असर दिखाई भी दे सकता है। कहा यह भी जा रहा है कि वियना में बीते नौ और दस जून को हुई बैठक की अध्यक्षता करने वाले एनएसजी के अध्यक्ष और अर्जेंटीना के राजदूत राफेल मरीयानो ग्रोसी को 17 पश्चिमी विशेषज्ञों ने एक चिट्ठी लिखी है, जिसमें तमाम आपत्तियों की बाकायदा सूची बनाकर भारत को एनएसजी की सदस्यता देने का विरोध किया गया है।

इस चिट्ठी में विरोध की कई वजहें बताई गई हैं। कहा गया है कि भारत ने परमाणु अप्रसार संधि (एनपीटी) पर तो हस्ताक्षर नहीं ही किया है, उसका व्यवहार भी मौजूदा एनएसजी सदस्यों की तरह का नहीं है। आरोप यह भी लगाया गया है कि परमाणु अप्रसार को लेकर एनएसजी के बुनियादी उसूलों में नई दिल्ली विश्वास नहीं करता। वह दूसरे देशों तक परमाणु ईंधन से जुड़ी प्रौद्योगिकियों की पहंुच रोकने के लिए भी पर्याप्त कदम नहीं उठा रहा, जिसके कारण उन प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल परमाणु हथियारों के निर्माण में होने की आशंका है।

चिट्ठी में जोर इस पर भी दिया गया है कि भारत एनएसजी के परमाणु-हथियार संपन्न देशों की तरह निरस्त्रीकरण से जुड़ी जिम्मेदारियां उठाने को तैयार नहीं है। यहां तक कि वह इस पर भी सहमत नहीं है कि भविष्य में परमाणु परीक्षण नहीं करेगा, परमाणु विखंडन प्रक्रिया में काम आने वाली सामग्रियों को नहीं बनाएगा और परमाणु हथियार मुक्त दुनिया की संकल्पना को साकार करते हुए अपने परमाणु हथियारों व मिसाइलों के भंडार घटाएगा।

चिट्ठी यह भी कहती है कि अंतरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आईएईए) के साथ भारत ने जो एडिशनल प्रोटोकॉल एग्रीमेंट किया है, वह भी दूसरे परमाणु-हथियार संपन्न देशों के मुकाबले कमजोर है। उल्लेखनीय है कि इसी समझौते के तहत इस एजेंसी को मुल्क के सभी असैन्य परमाणु क्रिया-कलापों की देखने-परखने का अधिकार मिलता है।

बहरहाल, इन तमाम आरोपों के बरक्स अगर परमाणु-हथियार क्षमता संपन्न एनएसजी सदस्य देशों की पड़ताल करें, तो इन आरोपों की कलई खुल जाती है। चीन का ही उदाहरण लेते हैं। चीन ने परमाणु अप्रसार संधि पर 1992 में हस्ताक्षर किया था, जबकि वह 2004 में परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह देशों में शामिल हुआ। इससे पहले उसके पास कोई उल्लेखनीय परमाणु भंडार नहीं था। मगर एनपीटी पर हस्ताक्षर करने और एनएसजी में शामिल होने के बाद कानूनी दायित्वों का उल्लंघन करते हुए उसने अपने परमाणु हथियारों व मिसाइलों के जखीरे को काफी बढ़ाया है। इसी तरह, 1998 में आईएईए के साथ चीन ने जो एडिशनल प्रोटोकॉल एग्रीमेंट किया था, उसकी भी खूब आलोचना हुई थी, क्योंकि उसमें चीन के परमाणु भंडार तक आईएईए की पहुंच लगभग नामुमकिन थी। इसका अमेरिका सबसे मुखर विरोधी था। बावजूद इसके चीन परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह देशों का सदस्य बना। ब्राजील भी एक अच्छा उदाहरण है, जिसने एडिशनल प्रोटोकॉल एग्रीमेंट नहीं किया है, फिर भी वह एनएसजी का सदस्य है।

इनके अलावा, चीन की वह हरकत भी जगजाहिर है, जिसमें उसने न सिर्फ संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में उत्तर कोरिया के परमाणु कार्यक्रमों से जुड़ी रिपोर्टों को रोका, बल्कि पाकिस्तान का साथ देते हुए एनएसजी के प्रावधानों को भी गंभीर चुनौती दी। सवाल उस बैंकॉक संधि को लेकर भी उठते हैं, जो परमाणु हथियर मुक्त दक्षिण-पूर्व एशिया का सपना साकार करता है और अब तक एनएसजी के किसी परमाणु हथियार संपन्न देश ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। मगर भारत की सदाशयता देखिए कि वह इस पर हस्ताक्षर को तैयार है।

यहां एनएसजी के बुनियादी उसूलों को भी अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। यह उसूल है, एनपीटी पर हस्ताक्षर करने वाले उन देशों तक परमाणु सामग्रियों व प्रौद्योगिकियों के निर्यात को नियंत्रित करना और परमाणु प्रसार को रोकना, जिनके पास परमाणु हथियार नहीं हैं। यह लक्ष्य भी अब तक पाया नहीं जा सका है। अलबत्ता, एनएसजी में कौन देश किसका मददगार है, इसका खुलासा जरूर इराक की उस फाइल से होता है, जो उसने 2002 में सुरक्षा परिषद को सौंपी थी। यह फाइल परमाणु हथियारों से संबंधित कार्यक्रमों को लेकर तैयार की गई थी।
इन तमाम तथ्यों की रोशनी में देखें, तो स्पष्ट है कि परमाणु-आपूर्तिकर्ता समूह शायद ही अपने सदस्य देशों के हथियार कार्यक्रमों को प्रतिबंधित करता है या उनमें कमी लाता है। एनएसजी सदस्य बनने की इच्छा रखने वाले भारत जैसे देश भी इससे अछूते नहीं हैं। ऐसे में, मेरा यह मानना है कि परमाणु-

हथियार कार्यक्रमों की यह दौड़ किसी कानूनी बंधन से नहीं थमने वाली, बल्कि यह पूरी तरह भू-राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा पर निर्भर करेगी, खासकर चीन और अमेरिका के बीच जारी स्पर्द्धा को देखते हुए। मगर इसे परखने में परमाणु अप्रसार के 'ठेकेदार' अब तक विफल रहे हैं।

अगर एनएसजी इस दिशा में कोशिश करे, तो वह एनपीटी पर हस्ताक्षर करने वाले उन देशों के बीच परमाणु प्रसार को रोकने में कहीं ज्यादा प्रभावी भूमिका निभा सकता है, जिन्होंने अब तक परमाणु हथियार नहीं बनाए हैं। भारत ने बेशक परमाणु अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर नहीं किया है और वह परमाणु हथियारों से भी लैस है, मगर उसकी यह स्थिति कोई उलझन पैदा करने वाली नहीं होनी चाहिए। चूंकि परमाणु-अप्रसार को लेकर नई दिल्ली का रिकॉर्ड उल्लेखनीय है, इसलिए भारत की इस स्थिति को व्यापक तौर पर उभरती भू-राजनीतिक स्थिति के संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

एनएसजी की सदस्यता के लिए भारत ने 300 पन्ने का जो आवेदन दिया है, उसमें भी यह झलक मिलती है कि नई दिल्ली किस तरह वैश्विक भूमिका निभा सकता है। इस आवेदन में भारत ने बताया है कि कैसे वह परमाणु-अप्रसार के मानदंडों को मजबूत बना सकता है। यह उसकी सदस्यता के साथ ही एनएसजी के उद्देश्यों को मजबूत बनाने का एक ठोस आधार माना जाना चाहिए। ऐसे में, अगर एनएसजी में भारत की सदस्यता रोकी गई, तो यही संदेश जाएगा कि चीन की जीत हुई है और जिस उद्देश्य के तहत इस समूह की नींव पड़ी, उसकी हार हुई।
(ये लेखक के अपने विचार हैं)

शत-प्रतिशत एफडीआई

भारत सरकार ने कई बड़े क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) की सीमा बढ़ाने का जो फैसला किया है, वह अर्थव्यवस्था के नजरिये से अच्छा फैसला है, हालांकि इसका जमीनी असर कितना और कैसा होता है, यह देखना होगा। सरकार ने जिन क्षेत्रों में शत-प्रतिशत एफडीआई लाने की प्रक्रिया को सरल बनाने का फैसला किया है, उनमें रक्षा, दवाएं, नागरिक उड्डयन और प्रसारण से जुड़ी सेवाएं हैं।

इस फैसले का पूरा-पूरा फायदा मिले, इसके लिए सरकार को कई मोर्चों पर जूझना होगा, सबसे पहले राजनीतिक विपक्ष इसका जोरदार विरोध करेगा, उस विरोध का सामना करना पड़ेगा। दूसरा बड़ा मोर्चा भारत का प्रशासनिक तंत्र है, यानी सरकार को अपने ही तंत्र को इतना चुस्त और पारदर्शी बनाना होगा कि वह एफडीआई के रास्ते में रुकावटें खड़ी न करे। तीसरा मोर्चा राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का है, जहां नए निवेश और उद्यम के लिए ज्यादा उत्साह नहीं है। इस वक्त पूरी दुनिया की नजर ग्रेट

ब्रिटेन के यूरोपीय यूनियन में रहने या न रहने के जनमत संग्रह पर है, जिसके फैसले का अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर बड़ा असर पड़ेगा। जाहिर है, तमाम क्षेत्रों में बड़े निवेशक पश्चिमी देशों से ही आएंगे, उनका रवैया पश्चिमी दुनिया में हो रही आर्थिक गतिविधियों से तय होगा। इसके अलावा, भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन के पद छोड़ने से देश की अर्थव्यवस्था के बारे में जो संदेह पैदा हुए हैं, उनका भी असर देखना होगा।

भारत सरकार यह जानती है कि रघुराम राजन की अंतरराष्ट्रीय आर्थिक दुनिया में बहुत प्रतिष्ठा है और उनके पद छोड़ने के फैसले की और जिन परिस्थितियों में उन्होंने यह फैसला किया, इस सबके बारे में अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया अच्छी नहीं है। राजन के कार्यकाल में भारत की अर्थव्यवस्था में एक स्थिरता और मजबूती आई है। उन्होंने रिजर्व बैंक का कारोबार सुधारा, बैंकों को अपना कामकाज और हिसाब-किताब साफ-सुथरा करने पर मजबूर किया और महंगाई को काबू में करने में योगदान दिया। राजन के पद छोड़ने के फैसले से दुनिया भर में यह संदेश पहुंचा कि भारत सरकार को स्वायत्त और वित्तीय तंत्र को व्यवस्थित और पारदर्शी बनाने वाला व्यक्ति बर्दाश्त नहीं है।

राजन के फैसले का असर बाजार में दिखना भी शुरू हो गया था और सरकार ने संभवत: एफडीआई बढ़ाने का यह फैसला इसे बेअसर करने के लिए ही किया है। इसका कुछ असर बाजार पर दिखाई भी पड़ा है, क्योंकि जो शेयर बाजार शुरू में लुढ़क रहा था, वह फिर कुछ बेहतर हुआ है। जाहिर है, एफडीआई बढ़ाने के फैसले का मानक शेयर बाजार का उतार-चढ़ाव नहीं हो सकता। देखना यह है कि इससे सचमुच कितनी एफडीआई आती है और जिन क्षेत्रों में एफडीआई सीमा बढ़ाई गई है, उनमें कितना बदलाव आता है। यह सब कुछ तुरत-फुरत नहीं हो सकता, अंतरराष्ट्रीय निवेशक कुछ वक्त तक माहौल देखेंगे, यह देखेंगे कि भारत में निवेश के लिए कैसा माहौल है, राजनीतिक और प्रशासनिक स्तर पर कितनी अनुकूल स्थिति है, तभी वे कोई कदम उठाएंगे।

तमाम क्षेत्रों में एफडीआई बढ़ाने का फैसला सही है, लेकिन भारत में विदेशी पूंजी को लेकर जिस तरह का माहौल है, उससे स्थिति जटिल हो जाती है। यह उस दौर का असर है, जब नियंत्रित अर्थव्यवस्था थी और हर विदेशी चीज को शक से देखा जाता था। पार्टियां अब भी इसका इस्तेमाल राजनीतिक फायदे के लिए करती हैं। भाजपा विपक्ष में थी, तो वह एफडीआई के हर प्रस्ताव का विरोध करती थी, और अब अन्य विपक्षी पार्टियां करती हैं। यह सिलसिला खत्म हो, तो देश के लिए बेहतर होगा।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 22-06-16

लाभ के पद पर विवाद के भंवर में फंसी 'आप'

आदिति फडणीस

क्या दिल्ली में आम आदमी पार्टी (आप) मुश्किलों में घिर गई है? दिल्ली सरकार ने पिछले साल आप के 21 विधायकों को मंत्रियों के संसदीय सचिव के पद पर नियुक्त किया था। भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने राष्ट्रपति से इसकी यह कहते हुए शिकायत की थी कि संसदीय सचिव का पद लाभ का पद है, लिहाजा निर्वाचित प्रतिनिधि होने के नाते उन्हें इस पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है। भाजपा ने इन 21 विधायकों को विधानसभा की सदस्यता के अयोग्य ठहराने की भी मांग की थी। नियुक्ति पर विवाद खड़ा होते देख दिल्ली सरकार ने संसदीय सचिव के पद को लाभ के पद के दायरे से बाहर करने का प्रस्ताव विधानसभा में रखा था जिसे पारित भी कर दिया गया। दिल्ली विधानसभा सदस्य (अयोग्यता उन्मूलन) अधिनियम 1997 में बदलाव के लिए लाए गए विधेयक को राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए भेजा गया लेकिन उन्होंने इस पर सहमति देने से मना कर दिया।

ऐसे में दो मुद्दे उभरकर सामने आ रहे हैं। पहला यह कि क्या इन सभी विधायकों को विधायक के तौर पर इस्तीफा देना होगा? फिर उन बाकी राज्यों का क्या होगा जहां पर अपने विधायकों को खुश करने के लिए संसदीय सचिव नियुक्त किए गए हैं? मंत्रिमंडल में मंत्रियों की संख्या को सीमित करने वाला कानून लागू होने के बाद कई राज्यों में सरकारों ने दल-बदल को रोकने के लिए संसदीय सचिव नियुक्त किए हैं। उदाहरण के लिए अरुणाचल प्रदेश में भी संसदीय सचिव नियुक्त किए गए हैं। विवाद खड़ा होने पर आप यही कह रही है कि कांग्रेस और भाजपा दोनों ही संसदीय सचिव नियुक्त करती आई हैं और जब ऐसा करना उस समय कानूनी था तो अब भी होना चाहिए।

इस मामले का दूसरा बिंदु इसके राजनीतिक असर से जुड़ा है। क्या इस विवाद का नतीजा दिल्ली विधानसभा की 21 सीटों पर उपचुनाव के रूप में सामने आएगा? अगर ऐसा होता है तो पंजाब में आम आदमी पार्टी की चुनावी संभावनाओं पर उसका कितना असर पड़ेगा? दिल्ली में उपचुनाव होने पर पार्टी को अपनी ऊर्जा पंजाब और दिल्ली के बीच बांटनी पड़ जाएगी। चुनाव आयोग के समक्ष अपना पक्ष रखते हुए इन विधायकों ने कहा है कि उन्होंने संसदीय सचिव के पद पर रहते हुए कोई भी आर्थिक लाभ नहीं लिया है। हालांकि संसदीय सचिव के रुप में उन्हें सरकारी वाहन के इस्तेमाल और मंत्री के

कार्यालय में कामकाज के लिए बैठने की जगह देने का प्रावधान शामिल था। संविधान विशेषज्ञ सुभाष काश्यप कहते हैं कि एक विधायक का सरकार के अधीन कोई पद ग्रहण करना, भले ही वह पारिश्रमिक के बगैर हो लेकिन अन्य लाभ उसमें शामिल हों, लाभ का पद ग्रहण करने जैसा ही माना जाएगा। संविधान के अनुच्छेद 102(1)(अ) में अयोग्यता के संबंध में तीन तत्त्वों का उल्लेख किया गया है: (क) एक पद होना चाहिए (ख) पद एक होना चाहिए जहां पदधारक लाभ ले रहा है (ग) उस तरह का पद सरकार के अधीन होना चाहिए। पूर्व महान्यायवादी मोहन परासरन 1971 के शिवमूर्ति स्वामी इनामदार बनाम अगडी संगणन वाद का जिक्र करते हुए कहते हैं कि इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्थिति एकदम साफ कर दी है। इस फैसले में कहा गया था कि 'यह पता लगाने की जरूरत है कि पद पर आसीन व्यक्ति जितना धन लेने वाला है उससे उसे क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त कुछ अन्य आर्थिक लाभ तो नहीं मिल रहा है, जिससे उसके लाभ देने वाली कार्यपालिका के प्रभाव में आने की संभावना पैदा हो जाए।'

गृह मंत्रालय का कहना है कि उल्लंघन के कुछ और मामले भी हैं। संसदीय सचिवों की तरह कुछ और पदों पर भी नियुक्ति के पहले उपराज्यपाल की अनुमति जरूरी होती है लेकिन कभी भी ऐसा नहीं किया गया। उच्चतम न्यायालय के कई फैसलों में इस बात का साफ उल्लेख है कि लाभ का पद केवल वेतन से ही जुड़ा हुआ नहीं है, इसमें दूसरे भत्ते भी शामिल हैं। दिल्ली के मामले में यह स्थिति बनती दिख रही है, जैसे कि उन्हें सचिवालय में कामकाज की जगह और आने-जाने के लिए सरकारी वाहन मिलेंगे।

परासरन के मुताबिक ऐसी स्थिति पैदा नहीं हो रही है। वह संविधान के अनुच्छेद 191(1)(अ) का जिक्र करते हुए कहते हैं कि इसमें विधायिका को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी पद को लाभ के पद से होने वाली अयोग्यता से बाहर कर सके। दिल्ली विधानसभा ने भी अयोग्यता अधिनियम 1997 में संशोधन का विधेयक पारित किया था लेकिन राष्ट्रपति ने या तो उस पर अनुमति देने से इनकार कर दिया है या फिर सहमति रोक दी है। लेकिन अगर दिल्ली के विधायकों को कोई विशेष लाभ या क्षतिपूर्ति नहीं होती है तो उन्हें अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता है। एक विधायक के रूप में उनकी सदस्यता पर इस बात से भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि राष्ट्रपति ने विधेयक को मंजूरी देने से मना कर दिया है।

इससे भी बड़ा मुद्दा तो राजनीतिक शक्ल अख्तियार कर चुका है। यदि आप अपने विधायकों को बचाने की लड़ाई में उलझ जाती है और इन विधायकों की सीटों पर उपचुनाव के आदेश हो जाते हैं तो पंजाब विधानसभा चुनाव के लिए चल रही तैयारी से उसका ध्यान भटक सकता है। यह अलग बात है कि 21 विधायकों के अयोग्य होने पर भी दिल्ली में उसकी सरकार पर कोई संकट नहीं आएगा क्योंकि फिलहाल इसके पास कुल 70 में से 67 विधायक हैं। एक गंभीर स्थिति तब पैदा हो सकती है जब इनमें से कोई भी विधायक दोबारा न चुनकर आए। दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल स्वयं को संवैधानिक और

कानूनी मामलों में फंसा हुआ पा रहे हैं और इस पर राजनीतिक प्रतिक्रिया भी ज्यादा कारगर साबित होती नहीं दिख रही है। यह देखना दिलचस्प होगा कि वह इस हालात से किस तरह निपटते हैं? दिल्ली के मतदाता तो अस्थिर व्यवहार के लिए पहले से ही कुख्यात हैं। हो सकता है कि आम आदमी पार्टी के लिए खतरा घात लगाए बैठा हो।

बड़े लेकिन अपर्याप्त सुधार!

सरकार ने प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) में सिलसिलेवार रियायत की जो घोषणा की है उसकी वजह चाहे जो भी हो लेकिन यह फैसला स्वागतयोग्य है क्योंकि इससे अर्थव्यवस्था सही दिशा में आगे बढ़ेगी। परंतु ये निर्णय सरकार के उस वादे को पूरा नहीं करते जिसके तहत उसने कई क्षेत्रों में विदेशी निवेश की सीमाओं को शिथिल करने की बात कही थी। उसका वादा देश को दुनिया की सर्वाधिक खुली अर्थव्यवस्था बनाने का था। कई रियायतें देश में कारोबारी सुगमता की पुरानी समस्या से दोचार हैं। ये रियायतें ऐसी शर्तों से बंधी हैं जिनकी व्याख्या नौकरशाही ही कर सकती है। ऐसे में जाहिर है विवेक के आधार पर निर्णय लिए जाने की गुंजाइश बनी रहेगी।

उदाहरण के लिए एकल ब्रांड खुदरा के नियमों की बात करते हैं। वास्तव में यह संदेहास्पद है कि हालिया सुधारों को पुराने प्रतिबंधों को सहज बनाने वाला माना भी जाए या नहीं। एकल ब्रांड के विदेशी खुदरा कारोबारियों के लिए 30 फीसदी स्थानीय खरीद की शर्त के साथ ही सरकार ने आइकिया और फैशन शृंखला एचऐंडएम को छूट देकर रियायत के दरवाजे खोल दिए। उसने अन्य कंपनियों के लिए मामला दर मामला सुनवाई की बात कही। यह बात ऐपल कंपनी के पूर्णस्वामित्व वाले स्टोरों के लिए भी कही गई। यह विवेकाधिकार वाला रुख शुरू से गलत था। अब सरकार ने इस सीमित सुधार के दायरे को और सीमित कर दिया है और खरीद संबंधी रियायत को तीन साल के लिए सीमित कर दिया है। यह विडंबना है। वहीं उत्कृष्टतम और अत्याधुनिक उत्पादों के क्षेत्र में काम कर रहे खुदरा कारोबारियों के लिए यह रियायत पांच साल के लिए उपलब्ध है।

यहां दो बातें हैं। पहली, यह समझना मुश्किल है कि सर्वोत्कृष्टïं और अत्याधुनिक खुदरा उत्पादों को वरीयता क्यों दी जानी चाहिए। दूसरी बात यह कौन तय करता है कि इन शर्तों का अर्थ क्या है और किस उत्पाद को इन गुणों वाला माना जाए? ऐसे में कॉर्पोरेट लॉबीइंग की आशंका को झुठलाना मुश्किल हो जाता है। यह बात देश में बने या उत्पादित खाद्य उत्पादों में 100 फीसदी एफडीआई जिसमें ई-कॉमर्स कारोबार शामिल है, के उलट जाती है। इसलिए क्योंकि उक्त साहसी कदम खाद्य महंगाई और कृषि आय में क्रांतिकारी बदलाव लाने में सक्षम है। मुख्यतौर पर देखा जाए तो खुदरा नीति अभी भी भ्रामक बनी हुई है। खुदरा गतिविधियों को एकल, बहुब्रांड, ई-कॉमर्स और थोक में बांटना और इसके बाद इनमें से प्रत्येक क्षेत्र के लिए अलग शर्त थोपना बेतुका प्रतीत होता है। अगर सरकार इन्हें खत्म करती तो दुनिया की सबसे खुली अर्थव्यवस्था होने का हमारा दावा मजबूत होता। रक्षा उत्पादन में दी गई छूट भी सरकार की अस्पष्टïं सोच की परिचायक है। सरकार ने 49 प्रतिशत से अधिक (सरकारी मंजूरी के अधीन) एफडीआई की इजाजत दे दी है। यह बदलाव भी व्यापक तौर पर स्वीकार्य होता अगर सरकार ने इसमें विचित्र परिशिष्टïं न जोड़ा होता। परिशिष्टïं के मुताबिक रियायत उन्हीं मामलों में दी जाएगी जहां उत्कृष्टïं तकनीक की जगह आधुनिक तकनीक तक पहुंच सुनिश्चित हो। अब यह कौन तय करेगा कि क्या आधुनिक है और क्या उत्कृष्टïंतम?

व्यापक तौर पर देखा जाए तो सरकार ने कुछ सामरिक उद्योगों को छोड़कर एफडीआई पर क्षेत्रवार सीमाएं हटाकर अवसर का अच्छा इस्तेमाल किया है। परंतु यह समझना मुश्किल है कि दवा क्षेत्र में ब्राउनफील्ड निवेश (जब कोई कंपनी मौजूदा उत्पादन इकाई में हिस्सा खरीदती है) के लिए 74 फीसदी की सीमा के पीछे क्या दलील है जबकि विमानन और टेलीविजन प्रसारण क्षेत्र में 100 फीसदी एफडीआई की इजाजत दे दी गई है। संक्षेप में कहा जाए तो सरकार ने देश का कारोबारी खुलापन बढ़ाने की दिशा में एक बड़ा कदम उठाया है लेकिन यह पर्याप्त नहीं है।